"रज्जब के साहित्य में सामाजिक चेतना"

रंजना शर्मा
शोधार्थी हिन्दी विभाग,
राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय, अजमेर

राजस्थान का जनजीवन अनेक धार्मिक मान्यताओं और आस्थाओं में गुँथा हुआ है। राजस्थान मध्यकालीन, राजनीतिक संक्रमण इस्लाम के प्रवेश एवं तुर्क आक्रमणों, उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन आदि ने राजस्थान के जनमानस को भी उद्वेलित किया। मुस्लिम प्रभाव तथा रूढ़िवाद और बाह्य आडम्बर से उत्पन्न वातावरण में कुछ ऐसे संत और विचारक सामने आए जिन्होनें जाति–पांति के भेदभावों से ऊपर उठकर प्राणिमात्र के कल्याण की कामना की तथा भक्ति का सहज रूप–

"जाति पांति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजे सो हरि को होई।।"

का मंत्र दिया, जिससें विभिन्न अंधविश्वासों और रूढ़ियों से ग्रस्त जनमानस में नवीन चेतना एंव स्फूर्ति जाग्रत हुई। ऐसे विचारकों को जनसाधारण ने संतो एवं देवताओं का दर्जा दिया जिन्हें आज भी सामान्यजन पूजता हैं तथा उनकी शिक्षाओं एवं जीवन का अनुकरण करने की लालसा रखता हैं। ऐसे संतो में धन्ना, मीरा, संत पीपा, दादू, मावजी, जसनाथजी, जाम्भोजी, चरणदास, सुन्दरदास, लालदास, संत रामचरण आदि प्रमुख हैं। जिसमें से राजस्थानी साहित्य में "रज्जब" के साहित्य में सामसिक संस्कृति इनके विचारों पर आघृत अनेक धार्मिक संप्रदायों को भी जन्म दिया। "रज्जब" जी ने धार्मिक, सामाजिक क्षेत्रों में अनेक प्रकार से योगदान दिया।

दादू के प्रमुख शिष्य संत रज्जब का जन्म सोलहवीं शताब्दी में सांगानेर (जयपुर) में एक पठान परिवार में हुआ। विवाह के लिए जाते समय दादू के उपदेश सुनकर रज्जब उनके शिष्य बन गए और जीवन–पर्यंत दूल्हे के वेश में रहते हुए ही दादू के उपदेशों का बखान किया। रज्जब जी की दो कृतियाँ उपलब्ध है– 1. रज्जवाणी एवं 2. सर्वंगी या सर्वायोग इसमें रज्जबवाणी रज्जब जी की मौलिक रचना है, तथा

सर्वंगी या सर्वागयोग साधना के भिन्न–भिन्न विषयों पर अनेक महात्माओं की तत्तद्विषयक उक्तियों का संकलन हैं। दोनों ही रचनायें अपनी–अपनी दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वाधिक मुस्लिम कवि भक्तिकाल में हुए। कबीर के बोध को जन–जन तक पहुँचाने में दादूपंथी संतो की बड़ी भूमिका है। संख्या की दृष्टि से दादू के जीवन में ही जितनी बड़ी संख्या में शिष्य–प्रशिष्य दादू के बने, सम्भवतः उतने शिष्य किसी संत के नही हुये। रज्जब ने संग्रह, सम्पादन की नयी तकनीक विकसित की। सम्पूर्ण संत साहित्य को रागों और अंगो में विभाजित किया। विभिन्न अंगो में सम्बन्धित विषय की साखियाँ चुन–चुनकर रखी गयी। यह बहुत बड़ा काम था। रज्जब ने यह काम तब किया जब अपने ही लिखे संरक्षण की बात बहुत मुश्किल थी। रज्जब के संकलन में एक दो, दस नही 137 कवि है। एक ओर इस संग्रह में कबीर, रैदास जैसे पूर्वी बोली के संत हैं तो दूसरी ओर दादू, स्वंय रज्जब, वषना, गरीबदास, प्रेमदास, पीपा जैसे राजस्थानी बोलियों के संत हैं।

भक्ति आंदोलन के संदर्भ में रज्जब जी ने धर्म का प्रसाद भक्ति–आन्दोलन की पूर्व पीठिका को माना है। इस आन्दोलन के जो महत्वपूर्ण निष्कर्ष है वे सभी भक्ति के साथ जुड़े हुए है। सामान्यजन को अपने में समेट लेने की इनमें क्षमता थी। कालान्तर में यह भावना केवल वैष्णव–भक्ति तक सीमित नहीं रही। इसके साथ शैव, शाक्त, बौद्ध तथा जैन भी जुड़े। इससे प्रभावित भी हुए भक्ति–आन्दोलन तीन सौ वर्षां तक अपने चरम पर था। जिस भक्ति ने उत्तर भारत में आन्दोलन का स्वरूप ग्रहण किया उसकी शुरूआत दक्षिण से हुई थी।

रज्जब जी ने अपने काव्य के माध्यम से सामाजिक चिंतन को नया स्वरूप दिया उन्होनें समाज में जो भी वास्तविक रूप में चल रहा है, उसमें सामाजिक जागरूकता को बढ़ावा दिया और समाज को एक नई राह दिखाई।

"कमल सीप जल जुदे, बसे अहि' मणि मुख मांही।
बडवानल पुनि बीज, वारि मयि भीजे नांही।।
दर्पण में प्रतिबिम्ब, शून्य' सब ही घट न्यारी।
लोई रंगे न सूत, देखि अचरज हो भारी।।
अहारह भार अग्नि रहित, सूर सलिल ले दे जुदा।
'रज्जब' सु साधु शक्तियों, मिले अमिल पाया मुदों।।"

विषम और कराल परिस्थितियाँ महापुरूषों को जन्म देती है। रज्जब जी के पूर्व की परिस्थितियाँ एवं रज्जब जी की समकालीन परिस्थितियाँ भी सौम्य बनाती हैं। युग पुरूष रज्जब जी के आविर्भाव काल में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ संक्रमण काल से गुजर रही थी। रज्जब जी के व्यक्तित्व और कृतित्व को, उनके जीवन और दर्शन को वास्तविक रूप में समझने के लिए विशेष रूप से उनके पूर्व और उनकी समकालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को जानना आवश्यक हैं उनकी प्रतिभा में पूर्ण मौलिकता रखते हुए भी उनके जीवन और दर्शन के निर्माण में उन्हें प्राप्त परम्पराओं का, सदगुरू की प्रेरणा और अपने समय के समाज जीवन की प्रतिक्रिया का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव निश्चित रूप से देखने में आता है।

भारत में प्रथम शताब्दी के बाद धर्मसाधना एवं दर्शन का महत्वपूर्ण साहित्य निर्मित हुआ। इन धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों के निर्माण की प्रेरक शक्ति उस समय देश में प्रवर्तित एवं नवोदित विभिन्न सम्प्रदाय थे। ये प्रवृतियाँ प्रारम्भ से ही क्रान्तिकारी और जातियता के प्रति नया दृष्टिकोण देने वाली होने से नवीन उत्साह और जोश से पूर्ण थी। उस समय भारत के उत्कर्ष के लक्षण व्यक्त हो रहे थे, पतन की कोई संभावना न थी।

16वीं शताब्दी के बाद धर्म प्रवृतियों में नवीनता आई। उन पर तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट दिखता था। इस प्रभाव में ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म भी नहीं बच पाये। प्राथमिक प्रभाव के रूप में तन्त्रशास्त्र उनके लिए सहायक सिद्ध हुआ परन्तु, आगे चलकर उनमें अनेक विकृतियों का प्रवेश हो गया। इसके फलस्वरूप होने वाले अनिष्टों को देखकर भारत के महान् मनीषी भी स्तब्ध रह गये। 18वीं शती के अन्त तक उन्मुक्त विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियों का तो अभाव रहा, प्रतिकूलता भी इसमें बाधा बन के आयी थी। परन्तु मध्यकालीन भक्ति साहित्य को देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि भारत की प्राण रूप उसकी अध्यात्म–चेतना का दमन किसी के द्वारा भी सम्भव न हुआ, बल्कि दमन का परिणाम विपरीत हुआ। यह प्रवृति और अधिक शक्ति सम्पन्न हुई, परन्तु इसके साथ दो अनिष्ट तत्व भी आये (1) धर्मान्तर की स्थिति– इस लोभ के प्रचार के कारण और ब्राह्मण धर्म की संकुचितता के परिणाम स्वरूप हिन्दू का मुसलमान हो जाना और (2) अपने सम्प्रदाय की गूढ़ता को सुरक्षित रखने के प्रयत्नों में स्वस्थ दृष्टि और विवेक के अभाव से विकृतियों का प्रवेश।

इन दो कारणों से मूल वैदिक आस्तिक परम्परा से विच्छिन्न होकर धर्म प्रवृतियों में नास्तिक स्वच्छन्दता आ गई उदाहरणार्थ राजा भोज के समय 'नील परी–दर्शन' का आर्विभाव हुआ। उसके सिद्धान्त में त्रिरत्न अर्थात सुरा–सुन्दरी और काम को प्रथम स्थान दिया गया।

पूर्व मध्ययुग की विविध साधनाओं के अन्तर्गत 16वीं से 18वीं शताब्दी तक मन्त्र, यन्त्र और बुद्धा के तांत्रिक सिद्धान्त का प्रभाव वैष्णव, शाक्त, शैव, गाणपत्य, सौर, बौद्ध और जैन सब धार्मिक सम्प्रदायों पर पड़ा। उन्होंने अपने–अपने आराध्य को सर्वश्रेष्ठता की मान्यता देकर उपासना–भाव को अधिक प्रगाढ़ता दी। इस भाव विकास के साथ दर्शन–पक्ष भी पुष्ट हुआ। इसमे महान् मनीषियों के जीवन में कर्मव्यता, व्यक्तित्व में जागरूकता और दर्शन में प्रतिभा का उत्कर्ष देखने में आता है।

तंत्र और प्रमाण–ग्रन्थों को सामान्य मनुष्य हृदयागम नहीं कर सकता था, परन्तु पांच राज का वैष्णव–मन सबके लिये ग्राह्य था और पंचदेवोपासना के विधान से सबकी रूचि की रक्षा भी हो जाती थी। इसके अलावा पाशपत–मत के साथ शैवागम का प्रवर्तन भी था जो शिव–शक्ति की एकता के प्रतीकात्मक वर्णन में आत्मा–ब्राह्मा की एकता का निरूपण कर रहा था। इस काल में प्रत्येक धर्म–सम्प्रदाय संघटित और प्रौढ़ हो रहा था। दक्षिण में आलवारों द्वारा प्रवर्तित वैष्णव–धर्म की बागडोर ऐसे कट्टर–पंथी आचार्यों के अधिकार में आई कि वे परम्पराओं से प्राप्त शास्त्रीय मर्यादाओं की रक्षा में भी अपने धर्म की सुरक्षा समझते थे। दूसरी ओर भक्तों में खानपान के व्यवहार में जाति भेद एवं छुआछूत की भावना न थी। वे शूद्र तथा स्त्री को भक्ति का अधिकारी मानते थे।

"द्वै मुखे उपजै दोष, लागै एक हि पिंड सौं।
तिन हुं न सुख संतोष, तो द्वै धट क्यों मिल चलहिं।।"

कर्मवाद कहता हैं– ''मनुष्य को अपने कर्म का फल मिलता हैं।'' जिन्होने व्यवहार में अकारण किसी को दुखी देखा, उन्होने ज्ञान सिद्धान्त का खण्डन किया। वेद में निरूपित कर्म–सिद्धान्त पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को मानता हैं और कर्म तथा उनके फल को उनसे सम्बन्द्ध कर संगति देता है। इसमें सनातन धर्म त्रिकाला बाधित सिद्ध होता हैं। वेद को न मानने वाले पुनर्जन्म और पूर्वजन्म को न मानने के कारण कर्म और उसके फल का सम्बन्ध नहीं समझ पाते। इसलिए सब वैदिक मतो ने कर्मकाण्ड का विरोध किया हैं। बौद्ध धर्म इस विरोध में सबसे आगे था। प्रारम्भ में बौद्ध सिद्धों के दो पंथ हुए–महायान और हीनयान। ये दोनो सैद्धान्तिक मतभेद वश स्वतन्त्र रूप के प्रवर्तित हुए। महायान पंथ में प्रविष्ट दोषों से बचने के लिए वज्रयान पंथ चला। उनकी नैतिक प्रवृति के साथ दर्शन में यथार्थवादी, अनेक वादी और

नेरात्म्यवादी लक्षण थे। जब यह पंथ नैतिक प्रवृत्ति में अपनी गतिविधि को ठीक से न संभाल पाया, तब इस पंथ के कुछ अनुयायियों ने 'सहजयान' और कुछ ने 'मंत्रयान' नाम से अपना अलग सम्प्रदाय शुरू किया। मंत्र के साथ तंत्र का प्रवेश भी अनिवार्य हो गया और उसमें गुह्य तत्वों की ओर संकेतिकता की प्रधानता रही। उन्हीं का रूपांतर वज्रयान में हुआ।

इतिहास में भी इसका उल्लेख मिलता हैं– 16वीं शताब्दी के बाद नालंदा, विक्रमादित्य, ओदन्तपुरी आदि विद्या पीठों में प्रचलित बौद्धधर्म तांत्रिक और योग–क्रियाओं की नवीनता के कारण तीन प्रधान मतों में प्रस्फुटित हुआ– वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान।'' तीसरा कालचक्रयान का मत आज तिब्बती अनुवाद में सुलभ है। वज्रयान पंथ ने सबको साधना का अधिकार दिया, इससे वह अधिका लोकप्रिय हुआ। इस पंच के सिद्धान्त ने बुद्ध में देवत्व का आरोप कर ईश्वरवाद की प्रेरणा दी और अनेक जातक–कथाएँ लिखी। यही पंथ साधना की सहजता को व्यक्त करने के कारण सहजयान नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने धर्म और सामाजिक आचरण में व्यावहारिक एकता की स्वाभाविकता का प्रतिपादन किया। सहजयान में 'वज्र' पुमिन्द्रिय का प्रतीक हैं। उसे प्रज्ञा का बोधक और बोधिचित्र का सारस्वरूप बताया गया। यह महासुख अर्थात् पूर्णानन्द की समरकता की सहज स्थिति हैं। चित्र शुद्धि के लिए इसकी साधना–पद्धति में 'योगिनी–मार्ग' एक अपूर्व विशेषता रखता हैं। इसमें पुरूष के लिए अपनी पत्नी के साथ साधना करने का विधान है। इसके समर्थन में बताया गया है कि बन्धन मुक्ति में कारण रूप चित्त सहवास–सुख की अनुभूति के बल पर महासुख की अनुभूति प्राप्त कर सकता है। इस मार्ग को राग मार्ग, अवधूती, चांडाली, डोंबीन आदि नाम भी दिए गए हैं। इन विविध परम्पराओं के परिवर्तन, रूपांतर, विकास और प्रवर्तन की प्रक्रिया में सर्वाधिक मुखरित विशेषता उनका कार्मिक दृष्टिकोण है। प्रारम्भिक काल के सन्तो ने आध्यात्मिक बातों को अधिक महत्व दिया।

मध्ययुग का समाज–जीवन धर्म द्वारा संचालित और नियंत्रित था। यह तथ्य हमें तत्कालीन साहित्य में प्रतिबिंबित युग–जीवन में उपलब्ध होता है। उस समय समाज के प्रत्येक स्तर पर धर्मजीवन की धड़कन थी। इसी कारण विधर्मियों के आक्रमक–अभियानों में राजनीतिक जुल्मों में सामाजिक सुधारक प्रतृतियों में और साहित्य में धर्म के उन्मूलन या उसकी प्रतिष्ठा के संघर्ष मूलक प्रयत्न स्पष्ट दिखते हैं। समाज की प्रिय धार्मिक भावना को अपनाने वाला विदेशी धर्ममतावलंबी लोकप्रिय हो सकता था और अपनी धार्मिक भावनाओं का प्रचार–प्रसार कर लोक–जीवन को प्रभावित भी कर सकता था।

धर्मशास्त्र और धर्मसाधना एक दूसरे में ओत प्रोत हैं। मध्ययुग के सर्वमान्य गृहस्थ जीवन में धर्मशास्त्र का अनुशासन था। विभिन्न सम्प्रदायों में दीक्षित साधक अपने–अपने सम्प्रदाय में मान्य ग्रन्थों के निर्देशानुसार साधना करते थे। लोगों को तीर्थाटन, स्नान, व्रत, उपवास, पुण्यकर्म, स्वर्ग–नरक, कर्मफल और पुर्नजन्म पितृश्राद्ध वर्णाश्रम व्यवस्था आदि में पूर्ण श्रद्धा थी और कर्मकाण्ड के अनुरूप विविध देवी–देवताओं की वे पूजा करते थे। इन्हीं कारणों से मनुष्य अधिक बहिर्मुख हो गया था और बाह्यचार मूर्तिपूजा आदि को महत्व देता था।

"दुष्ट वचन अरू दुणिढ तप, मन तन तिन जरि जाँहिं।
रज्जब सु शब्द शरद शशि, सब ठाहर सु सिराहि।।"

भिन्न–भिन्न विचारों तथा संस्कृतियों के संघर्ष के कारण एक नवीन प्रकार के समाज का निर्माण होता जा रहा था। लोगों को किसी योग्य मार्ग दर्शक की आवश्यकता थी। यह विकट कार्य उसी के द्वारा संभव था, जिसकी बुद्धि परस्पर–विरोधी प्रकृति के बीच समन्वय तथा सामंजस्य लाने के अतिरिक्त किसी स्थायी व सार्वभौम नियम तथा आदर्श का प्रस्ताव रखने में भी समर्थ हो। उक्त युग के पूर्वार्द्ध तक यहाँ का क्षेत्र तैयार हो चुका था। उसके उत्तरार्द्ध के आरम्भ से ही कुछ ऐसे व्यक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगा था, जिन्हें कम से कम पथ–प्रदर्शक संतो के नाते स्मरण करने की प्रवृति होती हैं। परिस्थितियों की प्रतिक्रिया से उनका आंतरिक चैतन्य उद्बुद्ध हुआ। उन्होने अबाधगति से कार्यक्षेत्र में प्रवेश किया, अदम्य प्रखरता से समस्या की गंभीरता की थाह ली और संघर्ष का निर्भय होकर सामना किया। इसमें समाज का उद्धार हुआ और धर्म की रक्षा हुई। तब समाज की रक्षा में राजनीति और धर्म दोनों जिम्मेदार माने जाते थे। रज्जब जी ने अपने जीवन से अनुभवों और गुरू के उपदेशों से समाज को नई राह दिखाई जिसके कारण आज भी लोग उनका अनुसरण कर जीवन को जीते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. नारायणादास स्वामी कविरत्न संतकवि – श्री रज्जबवाणी, पृष्ठ संख्या –1240
2. पाण्डेय डॉ. नन्दकिशोर– संत रज्जब, पृष्ठ संख्या –29
3. जैन डॉ. हुकम चन्द (2022)– राजस्थान का इतिहास संस्कृति परम्परा एवं विरासत, पृष्ठ संख्या–443, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
4. वंशी बददेव– संत रज्जब, पृष्ठ संख्या–42

5. संस्कर्ता नानूराम– राजस्थानी लोक साहित्य पृष्ठ संख्या–73

6. सिंहल ब्रजेन्द्र कुमार– रज्जब की सरबंगी, पृष्ठ संख्या–29

7. वर्मा डॉ. ब्रजलाल– संत कवि रज्जब, पृष्ठ संख्या–232

वेबसाईट–

www.hi.unionpedia.org
www.wikipedia.org
www.pustak.org